



ISSN Print: 2394-7500
ISSN Online: 2394-5869
Impact Factor: 5.2
IJAR 2017; 3(1): 906-909
www.allresearchjournal.com
Received: 11-11-2016
Accepted: 19-12-2016

डॉ. जितेन्द्र प्रसाद
सिंधियाघाट, विभूतिपुर, समस्तीपुर,
बिहार, भारत

वर्तमान परिप्रेक्ष्य में भारतीय लोकतांत्रिक व्यवस्था और चुनाव

डॉ. जितेन्द्र प्रसाद

सारांश:

भारतीय लोकतन्त्रीय प्रणाली का प्रादुर्भाव समाज के आधुनिकतावादी प्रभाग में हुआ और यहीं से विकसित होकर जनसाधारण में विस्तृत हुआ। भारतीय समाज की जड़ें इन पुरानी सभ्यता में हैं, जिसमें विविध तत्वों, वर्गों एवं जातियों का समावेश हुआ है तथा इसके आचार-विचार और मूल्यों की अपनी परम्परा है। दूसरी ओर संसदीय शासन तथा सत्तारूढ़ और विरोधी दलों का द्वन्द्व आधुनिक युग की चीजें हैं। भारतीय सामाजिक व्यवस्था प्राचीनकाल में वर्ण व्यवस्था पर आधारित रही है। वर्ण के साथ सामाजिक प्रतिष्ठा और पद का सम्बन्ध है, इसलिए छोटी समझी जाने वाली जातियां ऊपर के वर्ण में प्रवेश को उत्सुक रहती हैं। दूसरा वर्ण सार्व-देशिक श्रेणी या ढांचा है जिसमें देशभर की हजारों जातियां शामिल होती हैं। प्रतिष्ठा के मामले में ऊपर के वर्णों में भी प्रतिस्पर्धा रहती है उदाहरण के लिए क्षत्रिय वर्ण की ब्राह्मण वर्ण से पुरानी स्पर्धा रही है। इस प्रकार देश की सामाजिक व्यवस्था में वर्ण विभिन्न जातियों को जोड़ने का साथ लाने का काम करता है और राजनैतिक, औद्योगिकया चुनाव सम्बन्धी समाज में जो स्पर्धा संघर्ष उत्पन्न होते हैं, उनको सम्भालने का भी काम करता है। एक वर्ण में हजारों जातियां, उपजातियां हो ती हैं जो सोपान क्रम में एक-दूसरे से ऊँची-नीची होती हैं। वे जातियां चुनाव के समय संगठित होकर अपने समाज के प्रत्याशियों को चुनाव में विजय दिलाने का प्रयास करती हैं। स्वतंत्रता से पूर्व ब्राह्मण और कायस्थ जातियां जो शिक्षा, कानून, अंग्रेजी भाषा की ज्ञाता थी, पूरे भारतीय समाज का अंग्रेजों के विरुद्ध नेतृत्व प्रदान किया। लेकिन स्वतन्त्रता के बाद सभी वर्णों में नेताओं की उत्पत्ति हुई, जो अपने-अपने वर्ण का नेतृत्व करने लगे। ये जातियां वर्ण के माध्यम से सौदेबाजी करती हैं। जातीय संगठनों ने भारतीय राजनीति में उसी प्रकार भाग लिया है, जिस प्रकार अन्य देशों में विभिन्न हितों एवं वर्गों के संगठनों ने। स्वतन्त्रता प्राप्ति से पूर्व राजनीतिक मामलों पर वर्ण-व्यवस्था के ऊपर वाले वर्ण यथा-ब्राह्मण और क्षत्रिय तथा वैश्य वर्गों में ऊपर की जातियों का वर्चस्व था तथा मुसलमानों में भी उच्च वर्ग वालों का वर्चस्व था। लेकिन स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद स्थिति में बदलाव आया। संविधान ने अपने सभी नागरिकों को सभी क्षेत्रों में समान मौलिक अधिकार प्रदान किये हैं।

प्रस्तावना:

भारत में वर्तमान लोकतंत्र क्रमिक रूप से अधिक जन-भागीदारी की तरफ बढ़ा है। इसका प्रमाण मतदान और राजनीतिक चर्चाओं में लोगों की बढ़ती भागीदारी है। जिस सहजता एवं शीघ्रता से यहाँ सत्ता परिवर्तन हो जाता है, वह भी इसी बात की पुष्टि करता है। इसलिए भारतीय लोकतंत्र के सामने फिलहाल असली चुनौती इसके प्रतिनिधिक स्वरूप को बदलने की नहीं बल्कि यह है कि इस व्यवस्था में अधिकतम जन-भागीदारी और चुनावों में जन-भावनाओं की अधिकतम अभिव्यक्ति को कैसे सुनिश्चित किया जाए। इस संदर्भ में वोटों के अनुपात में सीटें न मिलना एक ठोस समस्या मानी जा सकती है। हाल के वर्षों में चुनावों में पार्टियों को मिलने वाले वोट प्रतिशत और सीटों के बीच विसंगति कुछ ज्यादा खुल कर सामने आने लगी है। यह तो निर्विवाद है कि हाल के लोकसभा चुनाव के नतीजे कई अर्थों में अप्रत्याशित और चौंकाने वाले रहे। इससे भारतीय राजनीति को लेकर पिछले ढाई दशकों में बनी कुछ धारणाएँ ध्वस्त हो गईं। मसलन, यह राय कि भी लंबे समय तक केंद्र में बगैर गठबंधन के कोई सरकार नहीं बन सकती। मगर इसके साथ ये विसंगति भी खुल कर उभरी कि कुछ इलाका में संकेंद्रित समर्थन आधार के जरिये कम वोट पाकर भी अधिक सीटें जीत लेने का चलन अपने देश में बढ़ता जा रहा है। भारतीय जनता पार्टी ने सिर्फ 31 प्रतिशत वोट पाकर पूर्ण बहुमत प्राप्त कर लिया। इसके पहले के 15 आम चुनावों में कभी ऐसा नहीं हुआ जब किसी पार्टी को 40 फीसदी से कम वोट पर स्पष्ट बहुमत मिला हो। इसके पहले सबसे कम 41.3 फीसदी वोट पर जनता पार्टी को 1977 में पूरा बहुमत मिला था। दरअसल, यह राजनीति के लगातार होते विखंडन का ही परिणाम है कि वोटों और सीटों के बीच विसंगति बढ़ती जा रही है। ऐसा होने की वजह अपनी 'फर्स्ट पास्ट द पोस्ट' की चुनाव प्रणाली है। इस प्रणाली के तहत उस उम्मीदवार को विजेता माना जाता है, जिसको किसी सीट पर सबसे ज्यादा वोट मिलते हैं, भले वो वोट कितने ही कम क्यों ना हों।

Corresponding Author:
डॉ. जितेन्द्र प्रसाद
सिंधियाघाट, विभूतिपुर, समस्तीपुर,
बिहार, भारत

ऐसे में जहाँ मुकाबला बहुकोणीय हो वहाँ पर किसी सीट पर सिर्फ 20 या उससे भी कम फीसदी वोट पाने वाला उम्मीदवार भी विजेता बन सकता है, क्योंकि बाकी वोट अलग-अलग उम्मीदवारों में बँट जाते हैं।

अपने देश में राजनीति के बढ़ते विखंडन— यानी राजनीतिक दलों की बढ़ती संख्या और उनके बीच वोटों के बढ़ते बँटवारे के कारण इस प्रणाली के तहत मिल रहे तीजे धीरे-धीरे बेटुके स्तर पर पहुंचते जा रहे हैं। प्रश्न यह है कि क्या इससे जनमत की सही अभिव्यक्ति हो रही है? तो क्या अब वक्त आ गया है, जब 'फर्स्ट पास्ट द पोस्ट' सिस्टम में बदलाव पर विचार किया जाए? इसका विकल्प क्या हो सकता है? सीधे आनुपातिक मतदान प्रणालीया एकल परिवर्तनीय आनुपातिक प्रणाली, या फर्स्ट पास्ट द पोस्ट और आनुपातिक प्रणाली का मिला-जुला रूप, जैसा कई देशों में अपनाया जाता है। बहुजन समाज पार्टी राष्ट्रीय स्तर पर 4.1 प्रतिशत वोट पाकर भाजपा और कांग्रेस के बाद तीसरे नंबर पर रही लेकिन उसे सीट एक भी नहीं मिली। उत्तर प्रदेश में इस बार बहुजन समाज पार्टी को एक करोड़ 59 लाख से अधिक वोट मिले, जो 2009 की तुलना में तकरीबन सवा सात लाख ज्यादा हैं। मगर तब उसे लोकसभा की 20 सीटें मिली थी, इस बार खाता नहीं खुला। राज्य में समाजवादी पार्टी को करीब एक करोड़ 80 लाख वोट मिले, जबकि 2009 में उसे तकरीबन एक करोड़ 29 लाख वोट ही मिले थे। किंतु तब उसे 23 सीटें मिली थीं, इस बार वह पांच पर सिमट गई। पश्चिम बंगाल में वाम मोर्चे को 30 प्रतिशत वोट मगर सिर्फ दो सीटें मिलीं। दूसरी तरफ कांग्रेस ने सिर्फ 9.6 प्रतिशत वोट पाकर चार सीटें जीत लीं। राष्ट्रीय स्तर पर देखें तो कांग्रेस को इस बार दस करोड़ 69 लाख वोट मिले।

2009 की तुलना में उसके वोटों में लगभग एक करोड़ 22 लाख की गिरावट आई है लेकिन यह अंतर इतना नहीं है, जिससे तब 206 सीटें पाने वाली पार्टी इस बार महज 44 पर सिमट जाती। भाजपा को 17 करोड़ से ऊपर यानी 2009 की तुलना में 9 करोड़ 32 लाख 22 हजार से अधिक वोट मिले लेकिन यह बढ़ोतरी भी उतनी नहीं थी, जिससे पिछली बार 116 सीटें पार्टी को 282 सीटें मिलना तार्किक लगे। दरअसल, इस बार कांग्रेस को जहाँ हर 24 लाख वोट पर एक सीट मिली, वहीं भाजपा को हर छह लाख वोटों पर एक सीट मिल गई। कारण वही है। भाजपा को वोट जहाँ मिले वहाँ खूब मिले। कांग्रेस के वोट बिखरे-बिखरे मिले। बहरहाल, सवाल यह है कि क्या हालिया चुनाव नतीजे जनमत की सही अभिव्यक्ति है? सिर्फ सीटों पर गौर करें तो ऐसी धारणा बनती है कि 2014 के चुनाव नतीजों ने भारतीय राज्य-व्यवस्था के संघीयकरण की परिघटना पर विराम लगा दिया। मगर क्या यह सच है? ध्यान दीजिए, 2009 के आम चुनाव में कांग्रेस को 206 और भाजपा को 116 सीटें मिली थीं, जिनका योग 322 बनता है। इस बार भाजपा को 282 और कांग्रेस 44 सीटें मिली हैं, जिनका योग 326 होता है। यानी पांच वर्ष पहले 221 सीटें बाकी दलों को गई थीं, इस बार ये आँकड़ा 217 है। 2006 में कांग्रेस ने 28.6 और भाजपा ने 18.82 फीसदी वोट हासिल किए थे। इसका जोड़ 47.42 प्रतिशत बनता है। इस बार भाजपा ने 31 और कांग्रेस ने 19.3 प्रतिशत वोट प्राप्त किए। यानी दोनों को मिला कर 50.3 फीसदी वोट मिले। मतलब यह कि दोनों राष्ट्रीय दलों के सम्मिलित वोटों में मात्र 2.88 फीसदी का इजाफा हुआ। उनकी चार सीटें बढ़ीं। क्या इस आधार पर यह कहने का आधार बनता है कि 1989 के बाद से राज्य-व्यवस्था के संघीयकरण की जो प्रक्रिया शुरू हुई थी, वह 2014 में निर्णायक रूप से पलट गई है? चुनाव परिणामों के स्वरूप से ऐसी ही धारणा बनी। दरअसल, भाजपा को स्पष्ट बहुमत मिलने का कारण यह है कि उसके मजबूत आधार वाले राज्यों (गुजरात, राजस्थान, मध्य प्रदेश, छत्तीसगढ़ और झारखंड) में भी उसकी एकतरफा आधी चली। उधर उत्तर प्रदेश, बिहार

और महाराष्ट्र जैसे बड़े राज्यों में उसके वोटों में जबरदस्त उछाल आया। वहाँ दूसरे तमाम दलों का लगभग सफाया हो गया लेकिन ऐसा होने का एक कारण यह भी रहा कि भाजपा ने सहयोगी दल चुनने में बुद्धिमता दिखाई। इसी कौशल से आंध्र प्रदेश में भी उसे सफलता मिली। असम में उसने अनपेक्षित कामयाबी हासिल की। परंतु ध्यान देने की बात यह है कि इनमें से ज्यादातर जगहों पर उसे सफलता कांग्रेस की कीमत पर मिली। क्षेत्रीय दलों के वोटों में वह ज्यादा संघ नहीं लगा पाई। तमिलनाडु, केरल, पश्चिम बंगाल, ओडिशा आदि में 'मोदी लहर' का असर दिखा, लेकिन यह इतनी ताकतवर नहीं थी कि भाजपा को सीटों का महत्वपूर्ण लाभ होता। इसके अलावा चुनाव सुधार से जुड़े जो मुद्दे हैं, उनका संदर्भ सिर्फ तकनीकी, कानूनी या प्रक्रियागत नहीं है। मतलब यह कि उनका राजनीतिक संदर्भ है। वे सुधार जनता की जागरूकता और सक्रिय भागीदारी से जुड़े हुए हैं। महज कानून या संहिताएँ बना कर उन मोर्चों पर ज्यादा कुछ हासिल नहीं किया जा सकता। मसलन चुनाव सुधारों पर चर्चा में आदर्श चुनाव आचार संहिता एक महत्वपूर्ण मुद्दा है।

इस संदर्भ में हमें यह याद करना चाहिए कि 2012 में उत्तर प्रदेश विधानसभा चुनाव के समय जब चुनाव आचार संहिता को कानूनी आधार देने की बात आई, तो निर्वाचन आयोग ने इसका कड़ा विरोध किया था। मतलब यह कि चुनाव आयोग ने आज की स्थिति को बेहतर माना। आयोग की राय है कि आचार संहिता को विधायी रूप दे दिया जाए तो उससे संबंधित विवाद अदालतों के दायरे में चले जाएंगे, और फ़ैसले वर्षों तक लटके रहेंगे। जाहिर है, इसे निर्वाचन आयोग स्वतंत्र एवं निष्पक्ष चुनाव कराने के लिहाज के माफिक नहीं मानता। ये बात क्या यह जाहिर नहीं करती कि कम से कम सियासी मामलों में जनमत का दबाव कानून से मिलनी वाली ताकत से ज्यादा कारगर होता है? आखिर आचार संहिता के मामले में चुनाव आयोग की तावफत क्या है? पूर्व मुख्य चुनाव आयुक्त एसवाई. कुरैशी ने एक चर्चा के दौरान कहा था कि आयोग चुनाव आचार संहिता को लागू कर पाता है तो इसलिए कि राजनीतिक दल उससे सहयोग करते हैं। स्पष्टतः राजनीतिक दल ऐसा करते नहीं, बल्कि जनमत के दबाव में उन्हें ऐसा करना पड़ता है। यह मिसाल चुनाव सुधारों को लेकर जारी चर्चा में इसलिए महत्वपूर्ण है, क्योंकि जिन सुधारों की कल्पना की जाती है या इस बारे में जो भी ठोस सुझाव दिए जाते हैं, उनकी सफलता इसी पर निर्भर करती है कि आखिरकार लोग उस अमल के लिए कितने निगहबान होंगे। भारतीय चुनावों की आज उच्च श्रेणी की कायम हो पाई है, तो इसका श्रेय चुनाव आयोग को तो जाता है, लेकिन टी.एन. शेषन से लेकर आज तक के दौर में निर्वाचन आयोग इसलिए सफल है, क्योंकि उसके साथ जनमत की ताकत है। आज लगभग पूरे भरोसे के साथ यह कहा जा सकता है कि अपने यहाँ चुनाव भले स्वच्छ ना रह पाते हों, लेकिन परिणाम लोगों के वोट से ही तय होते हैं। मुमकिन है कि कई संदर्भों में वोट देने के पीछे जो प्रेरक कारण रहते हैं, उन्हें स्वस्थ ना माना जाए लेकिन उनकी जड़ें हमारे अपने समाज में हैं। इन कारणों को समझने के लिए हमें अपने सामाजिक और ऐतिहासिक पृष्ठभूमियों पर गौर करना होगा।

परिणाम यह है कि प्रचार, झूठे, बैनर आदि पर जो पैसा खर्च होता, उसे उम्मीदवार अब नकद या शराब के रूप में बांट देते हैं। ऐसे ही अनुभवों के आधार पर यह कथन अब आम हो गया है कि चुनाव आयोग पिछले डेढ़ या दो दशकों में चुनावों से गुंडागर्दी खत्म करने में तो काफी हद तक सफल है, लेकिन धन का प्रभाव वह नहीं रोक पाया है। तो इसे कैसे रोका जा सकता है? आयोग चुनावों के दौरान खर्च पर नियंत्रण के लिए जिन कानूनों की जरूरत बताता है, उससे यह हो पाने की उम्मीद नहीं है, क्योंकि बिना कानूनी प्रावधान के भी चुनाव आयोग के पास आज पर्याप्त अधिकार हैं। आखिर कानून बन जाने से कितना फर्क पड़ जाएगा? फिर राजनीतिक दलों को मिलने वाले चंदों में

पारदर्शिता के उपायों की जो मांग की जाती है, उससे सरकारों की निर्णय नीतियों संबंधी जवाबदेही तय करने में तो काफी मदद मिल सकती है, लेकिन उससे चुनाव खर्च नियंत्रित हो सकेगा— यह मानना कठिन है। दरअसल, अगर चुनावों पर धन का प्रभुत्व है, तो उसका सीधा नाता अपने समाज के ढांचे से है। एक वर्ग विभाजित और विषम समाज में महज कानून के जरिये ताकतवर के प्रभाव को नियंत्रित करने की कोशिशें कभी पूरी तरह सफल नहीं हो सकतीं। इसलिए जो लोग लोकतंत्र बनाम धनतंत्र की बहस में पड़ते हैं, उन्हें धन एवं ताकत के वर्चस्व को समग्रता में समझने और समाज में उसे नियंत्रित करने के उपायों पर विचार करना चाहिए। वैसे, मौजूदा परिस्थितियों में सामाजिक यथार्थ से परिचित राजनीति शास्त्रियों का यह सुझाव जरूर गौरतलब है कि चुनाव में गैर-कानूनी धन को रोकने के लिए उपाय करने के साथ-साथ यह भी जरूरी है कि इसमें अच्छे धन के लिए गुंजाइश बनाई जाए। यानी कोई धन के अभाव में चुनाव लड़ने से वंचित हो जाए, ऐसा नहीं होना चाहिए। इसलिए चुनाव के लिए सरकारी धन दिए जाने का सुझाव दिया जाता है। यह तथ्य है कि सिर्फ धन चुनाव परिणाम को तय नहीं करता।

ऐसा होता तो हर चुनाव वही लोग जीतते जिनके पास सबसे ज्यादा धन है। फिर भी यह हकीकत जरूर है कि धन के अभाव में लोग चुनावी मुकाबले में नहीं आ पाते। ईमानदारी से समाज सेवा करने या विचारधारात्मक आग्रहों के कारण राजनीति में आने वाले लोगों के साथ अक्सर यह समस्या रहती है। अगर उनके लिए वैध धन उपलब्ध हो, तो अपने सामाजिक कार्यों या विचारों के कारण समाज में पहचान बनाने वाले लोगों के लिए न सिर्फ चुनाव लड़ना, बल्कि धीरे-धीरे मुकाबले में अपनी उपस्थिति बनाना भी संभव हो सकता है। यह महज संयोग नहीं है कि चुनाव सुधारों के प्रति प्रशंसनीय उत्साह दिखाने वाले पूर्व मुख्य चुनाव आयुक्त एस.वाई. कुरेशी चुनाव लड़ने के लिए सरकारी धन दिए जाने के प्रति अनुत्साहित रहे। जबकि यह चुनाव सुधारों की दिशा में एक बुनियादी कदम साबित हो सकता है। इसके विपरीत कुरेशी ने प्रक्रियागत बदलाव के अनेक सुझाव दिए। तत्कालीन प्रधानमंत्री मनमोहन सिंह को लिखे पत्र में उन्होंने प्रस्तावित सुधारों का विस्तार से जिक्र किया। कहा जा सकता है कि आयोग के अनुभवों के आधार पर ये सुझाव तैयार किए गए। यानी कुरेशी के सुझाव अहम हैं। उन पर गौर किया जाना चाहिए। लेकिन यह बेहिचक कहा जा सकता है कि ये सुझाव पर्याप्त नहीं हैं बल्कि कुछ मामलों में वे नौकरशाही नजरिये से निकले लगते हैं, जिनमें व्यवस्था को अधिक से अधिक लोकतांत्रिक बनाने के बजाय राजनीतिक दलों एवं उनकी गतिविधियों को नियंत्रित करने की चिंता दिखती है। मसलन, राजनीति का अपराधीकरण रोकने के लिए सुझाए गए उपायों को लिया जा सकता है। अपराधी राजनीति में नहीं आएँ, यह सही दिशा में सोचने वाले हर व्यक्ति की इच्छा होगी। मगर ऐसा करने की कोशिश में सामाजिक संघर्षों की पृष्ठभूमि से राजनीति में आए नेताओं का रास्ता बंद कर दिया जाए, यह लोकतंत्र की मूल भावना के खिलाफ होगा।

अक्सर दलित, पिछड़े एवं आर्थिक रूप से शोषित समूहों के हित में संघर्ष करने वाले लोगों पर अनेक तरह के मुकदमे थोप दिए जाते हैं। अगर कुरेशी के सुझावों को मान लिया जाए, तो ऐसे तमाम लोगों के चुनाव लड़ने पर रोक लग जाएगी, जिन के खिलाफ कोर्ट में आरोप तय हो चुके हों। फिलहाल यह रोक सजायापता होने पर लगती है। भारत के सामाजिक यथार्थ को देखते हुए क्या कोई न्यायप्रिय व्यक्ति इस सुझाव की तरफदारी कर सकता है? दरअसल, सिर्फ कानून या नियमों में बदलाव से चुनाव स्वच्छ हो जाएंगे, यह आशा भी नहीं की जा सकती। ऐसे सुझाव सिर्फ उन समूहों की तरफ से आते हैं, जो राजनीति की धूल-धक्कड़ से दूर हैं। यह उन लोगों की सोच है जो एक व्यक्ति – एक वोट – एक मूल्य की व्यवस्था ने भारतीय समाज

में सदियों से उत्पीड़ित समूहों को जो राजनीतिक ताकत दी है, उससे नावाकफ हैं। इसीलिए चुनाव सुधारों की चर्चा में जनतांत्रिक विषयवस्तु को जोड़ना अब बेहद जरूरी हो गया है लेकिन यह दुर्भाग्यपूर्ण है कि ऐसा करने वाली ताकतें पर्याप्त संख्या में मौजूद नहीं हैं। अपने को जन-आंदोलन कहने वाले संगठनों से ऐसी उम्मीद जरूर की जा सकती थी लेकिन ये संगठन संसदीय लोकतांत्रिक व्यवस्था के प्रति एक गजब किस्म के द्रोह भाव से ग्रस्त नजर आते हैं।

वोट के अधिकार ने व्यवस्था में संख्या बल को जो ताकत दी है, उससे उनकी परेशानी स्वाभाविक है। अपनी तमाम खामियों के साथ हमारी संवैधानिक व्यवस्था ने सामाजिक लोकतंत्र का जो आधार तैयार किया है, उससे सुविधाओं एवं अधिकारों का उन समूहों तक प्रसार शुरू हुआ है, जिसकी पूर्व-व्यवस्थाओं में कोई गुंजाइश नहीं थी। जाहिर है, ऐसा कुछ वर्गों के विशेषाधिकारों की कीमत पर हुआ है। इसलिए ऐसे समूहों की चर्चा में चुनाव सुधार का मतलब या मकसद राजनीति के इस लोकतांत्रिक स्वरूप को नियंत्रित करना हो, तो इसे समझा जा सकता है। मगर इस ऐतिहासिक प्रक्रिया के प्रति कथित जन आंदोलनों एवं उनके कार्यकर्ताओं का नकारात्मक दृष्टिकोण चुनाव सुधारों की चर्चा में जनतांत्रिक आयाम जोड़ने की राह में रुकावट बन जाए, तो इसे दुर्भाग्यपूर्ण ही कहा जाएगा। फिलहाल असली मुद्दा यह है कि चुनाव सुधारों की चर्चा को महज नकारात्मक उपायों तक सीमित न रहने दिया जाए। इसमें सकारात्मक पहल की संभावना को अधिक से अधिक जगह दी जाए। एनजीओ संचालित जन आंदोलन और नौकरशाहों से इस संदर्भ में उम्मीद जोड़ने का कोई आधार नहीं है, जिनके लिए चुनाव सुधार का मतलब लोकतांत्रिक राजनीति को बदनाम करना और उसकी प्रक्रियाओं पर नियमों तथा कानूनों का ऐसा शिकजा कसना है, जो लोकतंत्र के आगे बढ़ने का रास्ता अवरुद्ध कर दे। ऐसा संभवतः वे लोग या समूह ही कर सकते हैं, जो भारतीय लोकतंत्र के प्रति सकारात्मक नजरिया रखते हैं। उन लोगों को फिलहाल उन विकल्पों पर सोचना चाहिए जिनसे भारतीय चुनावों एवं जनमत की वास्तविक अभिव्यक्ति हो सके।

निष्कर्ष:

निष्कर्ष के तौर पर कहा जा सकता है कि मतदाता जातीय या सांप्रदायिक भावनाओं से प्रेरित होते हैं, या कोई धन देकर उनके वोट खरीद लेता है, तो इन बुराइयों को चुनाव संबंधी कानून या नियमों में किसी परिवर्तन से दूर नहीं किया जा सकता। हाँ, धन का प्रभाव एक बड़ा मुद्दा है। चुनावों में गैर-कानूनी धन के इस्तेमाल की शिकायत बढ़ती गई है। इससे पेड न्यूज और मतदाताओं को सीधे नकदी के भुगतान या शराब की बिक्री आदि जैसे चलन सामने आए हैं। यह आशंका बढ़ती जा रही है कि अगर इस पर नियंत्रण नहीं हुआ, तो लोकतंत्र असल में धन तंत्र में तब्दील हो जाएगा। हालांकि ऐसी आशंकाएँ भी अक्सर लोकतंत्र के वर्गीय चरित्र की अनदेखी करके ही जताई जाती हैं। उनमें अपने लोकतंत्र के वास्तविक चरित्र की समझ का अभाव रहता है, इसके बावजूद इस आशंका को पूरी तरह निराधार नहीं कहा जा सकता। मगर इसे कैसे रोका जाए? इस बारे में चुनाव आयोग जो कदम उठाता रहा है, उसका व्यवहार में कम ही असर हुआ है। बल्कि कुछ राजनीति शास्त्रियों का यह कहना बिल्कुल सही है कि पहले चुनावों में जो धन खुलकर खर्च होता था, अब वह परदे के पीछे से होने लगा है।

संदर्भ

1. दिजेन्द्र झा, एवं के0एम0 श्रीमाली, प्राचीन भारत का इतिहास, हिन्दी माध्यम कार्यान्वय निदेशालय, दिल्ली विश्वविद्यालय, 2013.

2. डॉ० रामविलास शर्मा, भारतीय नवजागरण और यूरोप, हिन्दी माध्यम कार्यान्वय निदेशालय, दिल्ली विश्वविद्यालय, 2012.
3. पार्थ सारथी गुप्ता, ब्रिटेन का इतिहास एवं यूरोप का इतिहास, हिन्दी माध्यम कार्यान्वय निदेशालय, दिल्ली विश्वविद्यालय, 2009.
4. प्रो० विपन चन्द्रा, भारत का स्वतंत्रता संघर्ष, हिन्दी माध्यम कार्यान्वय निदेशालय, दिल्ली विश्वविद्यालय, 2010.